

Chapter चौबीस

गोवर्धन-पूजा

इस अध्याय में कृष्ण द्वारा इन्द्र के निमित्त किये जाने वाले यज्ञ को रोक कर उसके बदले गोवर्धन-पूजा के यज्ञ का शुभारम्भ कराकर इन्द्र के गर्व को चूर करने का वर्णन हुआ है।

जब श्रीकृष्ण ने देखा कि सारे ग्वाले इन्द्र के लिए यज्ञ करने की तैयारी में लगे हैं, तो उनके राजा नन्द से उन्होंने इसके विषय में पूछा। नन्द ने बतलाया कि इन्द्र द्वारा प्रदत्त वर्षा से सारे प्राणी अपना जीवन-पालन करते हैं इसलिए यह यज्ञ उन्हें प्रसन्न रखने के लिए किया जाएगा। कृष्ण ने कहा, “सारे जीव कर्मवश ही एक विशेष शरीर लेकर जन्म लेते हैं, वे इस शरीर में तरह-तरह के सुख तथा दुख

भोगते हैं और जब कर्म क्षीण हो जाते हैं, तो वे इस शरीर को त्याग देते हैं। इस प्रकार कर्म ही हमारा शत्रु, मित्र, गुरु तथा स्वामी है और इन्द्र किसी के सुख तथा दुख को नहीं बदल सकते क्योंकि हर व्यक्ति अपने कर्मफल से जकड़ा हुआ है। सतो, रजो तथा तमोगुण इस जगत की सृष्टि, पालन तथा संहार के लिए उत्तरदायी हैं। रजोगुण से उद्दीप्त होकर बादल वर्षा करते हैं और गोप-जन अपनी गौवों की रक्षा करके सम्पन्न होते हैं। गौवों का असली वासस्थान जंगल तथा पर्वत में है। अतएव आपको गौवों, ब्राह्मणों तथा गोवर्धन पर्वत की पूजा करनी चाहिए।”

यह कहकर कृष्ण ने गोपजनों को एकत्र किया और इन्द्र का यज्ञ करने के लिए एकत्रित सामग्री से गोवर्धन-पूजा की तैयारी की। तत्पश्चात् उन्होंने विराट अद्वितीय दिव्य स्वरूप धारण किया और गोवर्धन पर्वत को चढ़ाये गये सारे भोजन तथा उपहारों को निगल लिया। ऐसा करते समय उन्होंने घोषणा की कि यद्यपि आज तक ग्वालजाति ने इन्द्र की पूजा की है, किन्तु वह साकार होकर कभी प्रकट नहीं हुआ जबकि गोवर्धन ने उनकी आँखों के समक्ष प्रकट होकर उनके द्वारा चढ़ाया गया सारा भोजन खा लिया है। अतएव उन्हें चाहिए कि वे सब अब गोवर्धन पर्वत को नमस्कार करें। तत्पश्चात् उन्होंने अपने द्वारा धारण किये गये नवीन स्वरूप को ग्वालों के साथ मिलकर नमस्कार किया।

श्रीशुक उवाच

भगवानपि तत्रैव बलदेवेन संयुतः ।

अपश्यन्निवसन्गोपानिन्द्रयागकृतोद्यमान् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; भगवान्—भगवान्; अपि—भी; तत्र एव—उसी स्थान पर; बलदेवेन—बलराम द्वारा; संयुतः—के साथ; अपश्यत्—देखा; निवसन्—निवास करते हुए; गोपान्—ग्वालों को; इन्द्र—स्वर्ग के राजा इन्द्र के लिए; याग—यज्ञ के लिए; कृत—किया हुआ; उद्यमान्—महान् प्रयास।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : उस स्थान पर ही अपने भाई बलदेव के साथ रहते हुए कृष्ण ने ग्वालों को इन्द्र-यज्ञ की जोर-शोर से तैयारी करते देखा।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी तथा अन्य आचार्यों के अनुसार इस श्लोक में आगत *तत्र एव* शब्द यह सूचित करता है कि भगवान् कृष्ण ब्राह्मणों के उसी गाँव में रहने लगे जिनकी पत्नियों ने अपनी भक्ति से उन्हें तुष्ट किया था। इस तरह उन्होंने उन ब्राह्मणों को तथा उनकी सती पत्नियों पर कृपा की जो अपने पतियों के सिवाय और किसी से सम्बन्ध नहीं रख सकती थीं। उसी स्थान पर कृष्ण के पिता

नन्द महाराज तथा अन्य ग्वाले किसी न किसी तरह इन्द्र-यज्ञ की भव्य तैयारी कर रहे थे तभी कृष्ण ने इस प्रकार अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की।

तदभिज्ञोऽपि भगवान्सर्वात्मा सर्वदर्शनः ।
प्रश्रयावनतोऽपृच्छद्वृद्धान्नन्दपुरोगमान् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तत्-अभिज्ञः—इसके विषय में पूर्ण ज्ञान रखने वाले; अपि—यद्यपि; भगवान्—भगवान् ने; सर्व-आत्मा—हर एक के हृदय में स्थित परमात्मा; सर्व-दर्शनः—सर्वज्ञ भगवान्; प्रश्रय-अवनतः—विनयपूर्वक झुक कर; अपृच्छत्—पूछा; वृद्धान्—बूढ़े लोगों से; नन्द-पुरः-गमान्—नन्द महाराज इत्यादि।

सर्वज्ञ परमात्मा होने से भगवान् कृष्ण पहले से ही सारी स्थिति जानते थे फिर भी विनीत भाव से उन्होंने अपने पिता नन्द महाराज इत्यादि गुरुजनों से पूछा।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण गोवर्धन पर्वत उठाने की लीला करने और इन्द्र के मिथ्या गर्व को चूर करने के लिए उत्सुक थे इसलिए उन्होंने बड़ी ही चतुराई से आसन्न यज्ञ के विषय में अपने पिता से पूछा।

कथ्यतां मे पितः कोऽयं सम्भ्रमो व उपागतः ।
किं फलं कस्य वोद्देशः केन वा साध्यते मखः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

कथ्यताम्—आप बतलायें; मे—मुझे; पितः—मेरे पिता; कः—क्या; अयम्—यह; सम्भ्रमः—बड़ा भारी काम; वः—आप पर; उपागतः—आया हुआ; किम्—क्या; फलम्—परिणाम; कस्य—किसके; वा—तथा; उद्देशः—हेतु; केन—किस तरह; वा—तथा; साध्यते—सम्पन्न किया जाना है; मखः—यह यज्ञ।

[भगवान् कृष्ण ने कहा] : हे पिताश्री, आप कृपा करके मुझे बतलायें कि आप इतना सारा महत् प्रयास किसलिए कर रहे हैं? आप क्या करना चाह रहे हैं? यदि यह कर्मकाण्डी यज्ञ है, तो यह किसकी तुष्टि हेतु किया जा रहा है और यह किन साधनों से सम्पन्न किया जायेगा?

एतद्ब्रूहि महान्कामो मह्यं शुश्रूषवे पितः ।
न हि गोप्यं हि साधूनां कृत्यं सर्वात्मनामिह ।
अस्त्यस्वपरदृष्टीनाममित्रोदास्तविद्विषाम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; ब्रूहि—बतलाइये; महान्—महती; कामः—इच्छा; मह्यम्—मुझको; शुश्रूषवे—सुनने के लिए; पितः—हे पिताश्री; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; गोप्यम्—गोपनीय; हि—निश्चय ही; साधूनाम्—सन्त पुरुषों के; कृत्यम्—कार्यकलाप; सर्व-

आत्मनाम्—अपने तुल्य सबों को देखने वाला; इह—इस जगत में; अस्ति—है; अस्व-पर-दृष्टीनाम्—जो अपने तथा पराये में भेद नहीं करता; अमित्र-उदास्त-विद्विषाम्—जो मित्रों, उदासीन दलों तथा शत्रुओं में अन्तर नहीं करते।

हे पिताश्री, कृपा करके इसके विषय में मुझे बतलायें। मुझे जानने की बड़ी इच्छा है और मैं श्रद्धापूर्वक सुनने को तैयार हूँ। जो अन्यो को अपने तुल्य मानते हैं, जिनमें अपनी तथा पराये का भेदभाव नहीं है और जो यह नहीं विचार करते कि कौन मित्र है, कौन शत्रु है और कौन उदासीन है ऐसे सन्त पुरुषों को कुछ भी छिपाकर नहीं रखना चाहिए।

तात्पर्य : हो सकता है कि कृष्ण के पिता ने सोचा हो कि यह अभी छोटा-सा बालक है अतएव वह वैदिक यज्ञ की वैधता के विषय में ठीक से प्रश्न नहीं कर सकता। किन्तु कृष्ण के चतुराई भरे कथन ने नन्द को आश्चर्य कर दिया होगा कि श्रीकृष्ण एक गम्भीर प्रश्न कर रहा है, कोई ऊटपटाँग प्रश्न नहीं। अतः गम्भीर उत्तर दिया जाना चाहिए।

उदासीनोऽरिवद्वर्ज्य आत्मवत्सुहृदुच्यते ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

उदासीनः—विरस रहने वाला; अरि-वत्—शत्रु के समान; वर्ज्यः—बचना चाहिए; आत्म-वत्—अपने ही समान; सुहृत्—मित्र को; उच्यते—कहना चाहिए।

जो उदासीन (निरपेक्ष) होता है उससे शत्रु की तरह बचना चाहिए, किन्तु मित्र को अपने ही समान समझना चाहिए।

तात्पर्य : भले ही नन्द महाराज अपने मित्रों, शत्रुओं तथा निरपेक्ष पक्षों को अपने तुल्य न मानते रहे हों, किन्तु अपना पुत्र होने के कारण भगवान् कृष्ण अवश्य ही विश्वसनीय मित्र थे अतएव अंतरंग चर्चाओं में उन्हें उपेक्षित नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में, भले ही गृहस्थ के रूप में नन्द महाराज ने यह सोचा हो कि वे सर्वोच्च सन्त पद पर स्थित होकर कर्म नहीं कर सकते, किन्तु भगवान् कृष्ण ने कुछ अन्य तथ्य प्रस्तुत किये जिसके फलस्वरूप उनके पिता को उन पर विश्वास करते हुए यज्ञ के पूरे उद्देश्य को प्रकट कर देना चाहिए।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार नन्द महाराज मौन खड़े थे और उन्हें अपने पितृ-विलगाव की स्थिति पर सन्देह हो रहा था क्योंकि गर्ग मुनि ने भविष्यवाणी की थी कि नन्द का पुत्र “अपने गुणों में नारायण के समान” होगा और यह युवा बालक पहले ही अनेक शक्तिशाली असुरों को पराजित करके उनका वध कर चुका था।

ज्ञत्वाज्ञात्वा च कर्माणि जनोऽयमनुतिष्ठति ।

विदुषः कर्मसिद्धिः स्याद्यथा नाविदुषो भवेत् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ज्ञात्वा—जान लेने पर; अज्ञात्वा—अनजाने; च—भी; कर्माणि—कर्म; जनः—सामान्य लोग; अयम्—ये; अनुतिष्ठति—सम्पन्न करते हैं; विदुषः—विद्वान्; कर्म-सिद्धिः—कर्म के वांछित लक्ष्य की पूर्ति; स्यात्—होती है; यथा—जिस तरह; न—नहीं; अविदुषः—मूर्ख के लिए; भवेत्—होता है।

जब इस जगत में लोग कर्म करते हैं, तो कभी तो वे समझते हैं कि वे क्या कर रहे हैं और कभी नहीं समझते। जो लोग यह जानते हैं कि वे क्या कर रहे हैं उन्हें अपने कार्य में सफलता प्राप्त होती है, जबकि अज्ञानी लोगों को सफलता नहीं मिलती।

तात्पर्य : भगवान् यहाँ पर अपने पिता को बता रहे हैं कि लोगों को चाहिए कि वे अपने मित्रों से परामर्श करके ही कोई विशेष उत्सव या कृत्य सम्पन्न करें। हमें परम्परा का अन्धानुकरण नहीं करना चाहिए। जो व्यक्ति यह भी नहीं जानता कि वह क्या कर रहा है, तो भला उसे उस कार्य में सफलता कैसे मिल सकती है? इस श्लोक में भगवान् का यही महत्त्वपूर्ण तर्क है। चूँकि नन्द के तरुण पुत्र श्रीकृष्ण से अपने पिता के धार्मिक कृत्य में उत्साह दिखाने की आशा करना स्वाभाविक था, अतएव पिता का कर्तव्य था कि वे पुत्र से इस उत्सव की पूरी व्याख्या करते।

तत्र तावत्क्रियायोगो भवतां किं विचारितः ।

अथ वा लौकिकस्तन्मे पृच्छतः साधु भण्यताम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

तत्र तावत्—ऐसा होने से; क्रिया-योगः—यह सकाम उद्यम; भवताम्—आपका; किम्—क्या; विचारितः—शास्त्रसम्मत; अथ वा—या कि; लौकिकः—लोकरीति के अनुसार; तत्—वह; मे—मुझको; पृच्छतः—पूछ रहे; साधु—स्पष्ट; भण्यताम्—बतला दिया जाय।

ऐसा होने से, आप मुझे स्पष्ट रूप से अपने इस अनुष्ठान विषयक उद्योग को बतला दें। क्या यह उत्सव शास्त्रसम्मत है या केवल समाज की एक साधारण रीति?

श्रीनन्द उवाच

पर्जन्यो भगवानिन्द्रो मेघास्तस्यात्ममूर्तयः ।

तेऽभिवर्षन्ति भूतानां प्रीणनं जीवनं पयः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

श्री-नन्दः उवाच—श्री नन्द महाराज ने कहा; पर्जन्यः—वर्षा के; भगवान्—महाप्रभु; इन्द्रः—इन्द्र; मेघाः—बादल; तस्य—उसके; आत्म-मूर्तयः—साकार प्रतिनिधि; ते—वे; अभिवर्षन्ति—सीधे वर्षा करते हैं; भूतानाम्—सारे जीवों की; प्रीणनम्—तुष्टि; जीवनम्—जीवनदायी शक्ति; पयः—दूध (के तुल्य)।

नन्द महाराज ने उत्तर दिया: महान् ईश्वर इन्द्र वर्षा के नियंत्रक हैं। ये बादल उन्हीं के साक्षात् प्रतिनिधि हैं और वे ही वर्षा करते हैं जिससे समस्त प्राणियों को सुख और जीवनदान मिलता है।

तात्पर्य : शुद्ध वर्षा-जल के बिना पृथ्वी न तो किसी को आहार, न ही पेय प्रदान कर सकती थी और न ही कहीं स्वच्छता रह सकती थी। अतः वर्षा की महत्ता का अनुमान लगा पाना कठिन है।

तं तात वयमन्ये च वारुचां पतिमीश्वरम् ।

द्रव्यैस्तद्रेतसा सिद्धैर्यजन्ते क्रतुभिर्नराः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; तात—हे पुत्र; वयम्—हम; अन्ये—अन्य लोग; च—भी; वाः—मुचाम्—बादलों के; पतिम्—स्वामी; ईश्वरम्—शक्तिशाली नियंत्रक को; द्रव्यैः—विविध वस्तुओं से; तत्-रेतसा—उसके वीर्य से; सिद्धैः—उत्पन्न; यजन्ते—पूजा करते हैं; क्रतुभिः—यज्ञ द्वारा; नराः—लोग।

हे पुत्र, केवल हम ही नहीं अपितु अन्य लोग भी वर्षा करने वाले इन बादलों के स्वामी की पूजा करते हैं। हम उन्हें अन्न तथा अन्य पूजा-सामग्री भेंट करते हैं, जो वर्षा रूपी उन्हीं के वीर्य से उत्पन्न होती है।

तात्पर्य : नन्द महाराज बड़े धैर्य से अपने नन्हेपुत्र श्रीकृष्ण को “जीवन के यथार्थ” समझाने का प्रयास कर रहे थे, किन्तु नन्द तथा वृन्दावन के समस्त वासियों को एक आश्चर्यजनक शिक्षा प्राप्त हुई जैसाकि इस अध्याय में बतलाया गया है।

तच्छेषेणोपजीवन्ति त्रिवर्गफलहेतवे ।

पुंसां पुरुषकाराणां पर्जन्यः फलभावनः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तत्—उस यज्ञ के; शेषेण—जूठन से; उपजीवन्ति—अपना पेट पालते हैं; त्रि-वर्ग—जीवन के तीन लक्ष्य (धर्म, अर्थ तथा काम); फल-हेतवे—फल पाने के हेतु; पुंसाम्—मनुष्यों को; पुरुष-काराणाम्—मानवीय प्रयास में लगे; पर्जन्यः—इन्द्र; फल-भावनः—वांछित लक्ष्यों को प्रभावित करने वाले साधन।

इन्द्र के लिए सम्पन्न यज्ञों से बचे जूठन को ग्रहण करके लोग अपना जीवन-पालन करते हैं तथा धर्म, अर्थ और काम रूपी तीन लक्ष्यों को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार भगवान् इन्द्र उद्यमी पुरुषों की सकाम सफलता के लिए उत्तरदायी अभिकर्ता हैं।

तात्पर्य : कोई यह आक्षेप कर सकता है कि लोग कृषि, उद्योग इत्यादि के द्वारा अपना भरण-

पोषण करते हैं। किन्तु जैसाकि पहले उल्लेख हो चुका है कि सारे मानवीय तथा अमानवीय प्रयास भोजन तथा पय पर आश्रित होते हैं, जिन्हें पर्याप्त वर्षा के बिना उत्पन्न नहीं किया जा सकता। *त्रिवर्ग* शब्द के द्वारा नन्द ने यह भी बतलाया कि इन्द्र-यज्ञ के द्वारा प्राप्त होने वाली सम्पन्नता केवल इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं होती अपितु धर्म तथा आर्थिक विकास के लिए भी होती है। जब तक लोगों को भलीभाँति भोजन नहीं मिलता वे अपने कार्यों को ठीक से नहीं कर पाते और अपना कार्य किये बिना धार्मिक बन पाना अतीव कठिन है।

य एनं विसृजेद्धर्मं परम्पर्यागतं नरः ।

कामाद्द्वेषाद्द्रयाल्लोभात्स वै नाप्नोति शोभनम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; एनम्—इसको; विसृजेत्—बहिष्कार कर देता है; धर्मम्—धर्म को; परम्पर्यं—परम्परा से; आगतम्—प्राप्त किया हुआ; नरः—व्यक्ति; कामात्—काम के वशीभूत होकर; द्वेषात्—शत्रुतावश; भयात्—भयवश; लोभात्—या लालच के वश में आकर; सः—वह; वै—निश्चय ही; न आप्नोति—नहीं प्राप्त करता है; शोभनम्—मंगल।

यह धर्म स्वस्थ परम्परा पर आश्रित है। जो कोई काम, शत्रुता, भय या लोभ वश इसका बहिष्कार करता है उसे निश्चय ही सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सकेगा।

तात्पर्य : यदि कोई व्यक्ति काम, ईर्ष्या, भय या लोभ वश अपने धार्मिक कर्तव्यों की उपेक्षा करता है, तो उसका जीवन कभी भी प्रखर या पूर्ण नहीं हो सकता।

श्रीशुक उवाच

वचो निशम्य नन्दस्य तथान्येषां व्रजौकसाम् ।

इन्द्राय मन्युं जनयन्पितरं प्राह केशवः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

श्री शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; वचः—शब्द; निशम्य—सुनकर; नन्दस्य—महाराज नन्द के; तथा—और; अन्येषाम्—अन्य; व्रज-ओकसाम्—व्रज के निवासियों के; इन्द्राय—इन्द्र हेतु; मन्युम्—क्रोध; जनयन्—उत्पन्न करते हुए; पितरम्—अपने पिता से; प्राह—बोले; केशवः—भगवान् केशव।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब भगवान् केशव [कृष्ण] ने अपने पिता नन्द तथा व्रज के अन्य गुरुजनों के कथनों को सुना तो इन्द्र के प्रति क्रोध उत्पन्न करने के उद्देश्य से उन्होंने अपने पिता को इस प्रकार सम्बोधित किया।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी बतलाते हैं कि भगवान् कृष्ण की आन्तरिक इच्छा न केवल किसी देवता का अपमान करने की थी अपितु उस मिथ्या गर्व के पर्वत को ढहा देने की थी जो भगवान् के

उस क्षुद्र सेवक के मन में उत्पन्न हुआ था, जो इन्द्र के रूप में भगवान् का प्रतिनिधित्व कर रहा था। इस प्रकार भगवान् कृष्ण गोवर्धन पर्वत उठाकर गोवर्धन-पूजा नामक उल्लासपूर्ण वार्षिकोत्सव का शुभारम्भ करेंगे और वे अपने प्रिय भक्तों के साथ उस पर्वत के नीचे अनेक दिवसों तक बसे रहने की मनमोहक लीला का आनन्द मनाएँगे।

श्रीभगवानुवाच

कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव प्रलीयते ।

सुखं दुःखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; कर्मणा—कर्म के बल से; जायते—उत्पन्न होता है; जन्तुः—जीव; कर्मणा—कर्म से; एव—ही; प्रलीयते—अपना विनाश करता है; सुखम्—सुख; दुःखम्—दुख; भयम्—भय; क्षेमम्—सुरक्षा; कर्मणा एव—कर्म से ही; अभिपद्यते—प्राप्त किये जाते हैं।

भगवान् कृष्ण ने कहा : कर्म से ही जीव जन्म लेता है और कर्म से ही उसका विनाश होता है। उसके सुख, दुख, भय तथा सुरक्षा की भावना का उदय कर्म के प्रभावों के रूप में होता है।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण ने कर्मवाद या कर्म-मीमांसा नामक दर्शन का कथन करके जो आधार रूप में पुनर्जन्म में विश्वास के साथ नास्तिकता है, देवताओं की महत्ता कम कर दी। इस दर्शन के अनुसार प्रकृति के सूक्ष्म नियम हमारे कर्म के अनुसार हमें पुरस्कृत या दण्डित करते हैं—जैसा बोओगे वैसा ही काटोगे। भावी जीवन में मनुष्य अपने वर्तमान कर्म का फल पाता है और सच्चाई का सार यही है। साक्षात् भगवान् होने के कारण भगवान् कृष्ण इस मध्यम दर्शन के प्रस्तोता नहीं हो सकते। वे तो बालक रूप में अपने भक्तों के साथ छेड़खानी करने के लिए ऐसा उपदेश दे रहे थे।

श्रील जीव गोस्वामी इंगित करते हैं कि भगवान् कृष्ण सोच रहे थे कि ये मेरे सारे शाश्वत संगी जो मेरे पिता, सम्बन्धी तथा मित्रों के रूप में प्रकट हुए हैं इन्द्र की पूजा के प्रति इतने प्रतिबद्ध क्यों हैं ? इस तरह यद्यपि भगवान् का मुख्य उद्देश्य इन्द्र के मिथ्या गर्व को चूर करना था, किन्तु वे अपने भक्तों को यह भी याद दिलाना चाहते थे कि उन्हें अन्य तथाकथित देवताओं की ओर अपना ध्यान नहीं मोड़ना है क्योंकि वास्तव में उनके भक्त तो पहले से ही परम सत्य अर्थात् स्वयं सर्वशक्तिमान भगवान् के साथ रह रहे थे।

अस्ति चेदीश्वरः कश्चित्फलरूप्यन्यकर्मणाम् ।

कर्तारं भजते सोऽपि न ह्यकर्तुः प्रभुर्हि सः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

अस्ति—है; चेत्—यदि मान लें; ईश्वरः—परम नियन्ता; कश्चित्—कोई; फल-रूपी—सकाम फल प्रदान करने वाला; अन्य-कर्मणाम्—अन्य व्यक्तियों के कर्मों का; कर्तारम्—कर्म का कर्ता; भजते—आश्रित होता है; सः—वह; अपि—भी; न—नहीं; हि—अन्ततः; अकर्तुः—कर्म न करने वाले का; प्रभुः—स्वामी; हि—निश्चय ही; सः—वह।

यदि कोई परम नियन्ता हो भी, जो अन्यो को उनके कर्मों का फल प्रदान करता हो तो उसे भी कर्म करने वाले पर आश्रित रहना होगा। वस्तुतः जब तक सकाम कर्म सम्पन्न न हो ले तब तक सकाम कर्मफलों के प्रदाता के अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठता।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् कृष्ण तर्क करते हैं कि यदि कोई परम नियन्ता हो भी तो आदान-प्रदान के लिए उसे कर्म करने वाले पर आश्रित रहना होगा अतएव बद्धजीवों को पुण्य एवं पाप के नियमों के अनुसार सुख तथा दुख प्रदान करने के लिए बाध्य होने के कारण उसे कर्म के नियमों के अधीन होना पड़ेगा।

इस सतही तर्क में इस बात की उपेक्षा हो जाती है कि शुभ तथा अशुभ कर्मों के अच्छे तथा बुरे फलों की संस्तुति करने वाले प्रकृति के नियम सर्वमंगल परमेश्वर की ही सृष्टि हैं। इन नियमों के स्रष्टा तथा पालक होने के कारण, भगवान् उनके अधीन नहीं रहते। साथ ही, भगवान् बद्धजीवों के कर्म पर आश्रित नहीं होते क्योंकि वे अपने में तुष्ट और पूर्ण रहने वाले हैं। वे अपने सर्वदयालु स्वभाव के कारण हमारे कर्मों के अनुसार ही फल प्रदान करते हैं। जिसे हम भाग्य या कर्म कहते हैं वह पुरस्कार तथा दण्ड की सूक्ष्म प्रणाली है, जो बद्धजीवों को क्रमशः पूर्ण चेतना की अवस्था विकसित करने के निमित्त है और यही उनकी मूल स्वाभाविक प्रकृति है।

भगवान् ने मानव व्यवहार के लिए दण्ड तथा पुरस्कार को नियंत्रित करने वाले प्रकृति के नियमों को इस निपुणता से सूत्रबद्ध एवं प्रयुक्त किया है कि जीव शाश्वत आत्मा के रूप में अपनी स्वतंत्र इच्छा में किसी महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप के बिना पाप करने से निरुत्साहित होता है और अच्छाई की ओर प्रोत्साहित होता है।

भगवान् भौतिक प्रकृति से विपरीत आध्यात्मिक जगत में अपने अनिवार्य स्वभाव को प्रदर्शित करते हैं जहाँ वे अपने शुद्ध भक्तों के नित्य प्रेम से आदान-प्रदान करते हैं। ऐसे प्रेम-व्यापार भगवान् तथा उनके भक्तों की पारस्परिक स्वतंत्रता पर आधारित होते हैं, किसी स्वार्थ को लेकर नहीं। अपने

भक्तों की सहायता से भगवान् इस जगत के बद्धजीवों को बारम्बार अवसर प्रदान करते हैं कि वे भौतिक विश्व का शोषण करना त्याग कर आनन्द तथा ज्ञान से पूर्ण जीवन बिताने के लिए भगवद्धाम वापस जाँय। इन बातों पर विचार करते हुए भगवान् ने हँसी हँसी में जो नास्तिक तर्क प्रस्तुत किये हैं उन्हें गम्भीरता से नहीं लेना चाहिए।

किमिन्द्रेणेह भूतानां स्वस्वकर्मानुवर्तिनाम् ।
अनीशेनान्यथा कर्तुं स्वभावविहितं नृणाम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; इन्द्रेण—इन्द्र से; इह—यहाँ; भूतानाम्—जीवों के लिए; स्व-स्व—अपना अपना; कर्म—सकाम कर्म का; अनुवर्तिनाम्—फल भोगने वाले; अनीशेन—असमर्थ (इन्द्र); अन्यथा—अन्यथा; कर्तुम्—करने के लिए; स्वभाव—अपने बद्ध स्वभावों से; विहितम्—भाग्य में लिखा हुआ; नृणाम्—मनुष्यों के।

इस जगत में जीवों को अपने किसी विशेष पूर्व कर्म के परिणामों का अनुभव करने के लिए बाध्य किया जाता है। चूँकि भगवान् इन्द्र किसी तरह भी मनुष्यों के भाग्य को बदल नहीं सकते जो उनके स्वभाव से ही उत्पन्न होता है, तो फिर लोग उनकी पूजा क्यों करें?

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् कृष्ण का तर्क स्वच्छन्दता का निषेध नहीं करता। यदि मनुष्य कर्म को हमारे वर्तमान कार्यों का फल देने वाले नियमों की प्रणाली मान लेता है, तो हम अपने स्वभाव के अनुसार अपने भविष्य का निर्णय स्वयं करेंगे। इस जीवन के हमारे सुख तथा दुख पहले से हमारे पूर्व-जन्मों के कर्मों के अनुसार निश्चित कर दिये गये हैं जिसे देवता भी नहीं बदल सकते। वे हमारे पूर्व-कर्मों के अनुसार हमें सम्पन्नता या विपन्नता, रुग्णता या आरोग्य, सुख या दुख प्रदान करते हैं। फिर भी इस जीवन में शुभ या अशुभ कर्म करने की स्वच्छन्दता अब भी हम में है और हमारे चुनाव के अनुसार ही हमारे भावी सुख तथा दुख का निर्णय होगा।

उदाहरणार्थ, यदि मैं पूर्व-जन्म में पवित्र रहा होऊँगा तो देवता मुझे इस जन्म में प्रचुर सम्पत्ति प्रदान कर सकते हैं। किन्तु मैं अपने धन को अच्छे या बुरे कर्मों में व्यय करने के लिए स्वतंत्र हूँ और मेरे चुनाव से ही मेरे भावी जीवन का निश्चय होगा। इस तरह यद्यपि इस जीवन में मिलने वाले अपने कर्म-फलों को मनुष्य बदल नहीं सकता, किन्तु तो भी उसमें स्वतंत्र इच्छा होती है, जिससे वह अपने भविष्य को निश्चित कर सकता है। यहाँ पर भगवान् कृष्ण का तर्क बड़ा मजेदार है फिर भी इसमें इस निर्णायक विचार की उपेक्षा की गई है कि हम सभी ईश्वर के नित्यदास हैं और हमें अपने कर्म द्वारा

उन्हें प्रसन्न करना चाहिए।

स्वभावतन्त्रो हि जनः स्वभावमनुवर्तते ।

स्वभावस्थमिदं सर्वं सदेवासुरमानुषम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

स्वभाव—अपने बद्ध स्वभाव के; तन्त्रः—नियंत्रण में; हि—निस्सन्देह; जनः—व्यक्ति; स्वभावम्—अपने स्वभाव का; अनुवर्तते—पालन करता है; स्वभाव-स्थम्—बद्ध लालसा पर आधारित; इदम्—यह संसार; सर्वम्—सम्पूर्ण; स—समेत; देव—देवतागण; असुर—असुरगण; मानुषम्—तथा मनुष्य जाति।

प्रत्येक व्यक्ति अपने ही बद्ध स्वभाव के अधीन है और उसे उस स्वभाव का ही पालन करना चाहिए। देवताओं, असुरों तथा मनुष्यों से युक्त यह सम्पूर्ण जगत जीवों के बद्ध स्वभाव पर आश्रित है।

तात्पर्य : यहाँ पिछले श्लोक में दिये गये तर्क की भगवान् कृष्ण द्वारा व्याख्या की गई है। चूँकि हर बात स्वभाव पर निर्भर करती है, तो फिर ईश्वर या देवताओं की पूजा क्यों की जाय? यह तर्क भव्य हो सकता है यदि स्वभाव सर्वशक्तिमान होता। किन्तु दुर्भाग्यवश ऐसा नहीं है। इसके ऊपर कोई परम नियंता है हमें जिसकी पूजा करनी चाहिए जैसाकि आगे श्रीमद्भागवत के इस अध्याय में जोर देकर श्रीकृष्ण प्रकट करेंगे। इस समय तो उन्हें अपने सम्बन्धियों को तंग करने में मजा आ रहा है।

देहानुच्चावचाञ्जन्तुः प्राप्योत्सृजति कर्मणा ।

शत्रुमित्रमुदासीनः कर्मैव गुरुरीश्वरः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

देहान्—भौतिक शरीरों को; उच्च-अवचान्—उच्च तथा निम्न श्रेणी के; जन्तुः—बद्धजीव; प्राप्य—पाकर; उत्सृजति—त्याग देता है; कर्मणा—अपने कार्यों के फलों के द्वारा; शत्रुः—उसका शत्रु; मित्रम्—मित्र; उदासीनः—तथा निरपेक्ष पक्ष; कर्म—भौतिक कार्य; एव—अकेला; गुरुः—उसका गुरु; ईश्वरः—उसका स्वामी।

चूँकि कर्म के ही फलस्वरूप बद्धजीव उच्च तथा निम्न श्रेणी के विविध शरीरों को स्वीकार करता है और फिर त्याग देता है अतएव यह कर्म उसका शत्रु, मित्र तथा निरपेक्ष साक्षी है, उसका गुरु तथा ईश्वर है।

तात्पर्य : देवतागण तक कर्म के नियमों द्वारा बँधे तथा मर्यादित हैं। यहाँ तक कि साक्षात् इन्द्र स्वयं कर्म के नियमों के अधीन हैं जैसाकि ब्रह्म-संहिता (५.५४) में स्पष्ट कहा गया है—
यस्त्विन्द्रगोपमथ वेन्द्रमहो स्वकर्म बन्धानुरूपफलभाजनम् आतनोति- भगवान् गोविन्द सारे प्राणियों को

उनके कर्मों का उपयुक्त फल प्रदान करते हैं। यह स्वर्ग लोकों के राजा बलशाली इन्द्र तथा इन्द्रगोप नामक कीट पर समान रूप से लागू होता है। *भगवद्गीता* में भी (७.२०) कहा गया है—
कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्य देवताः—जिन्होंने भौतिक इच्छाओं के वशीभूत होकर अपनी बुद्धि खो दी है वे ही भगवान् की पूजा न करके देवताओं की शरण में जाते हैं। वस्तुतः देवतागण किसी को भी स्वतंत्र रूप से वर नहीं दे सकते जैसाकि भगवान् कृष्ण ने 'गीता' में कहा है *मयैव विहितान् हि तान्*—सारे वर अन्ततः स्वयं भगवान् द्वारा प्रदत्त होते हैं।

यह कहना पूरी तरह से गलत नहीं है कि देव पूजा व्यर्थ है क्योंकि देवता भी कर्म के नियमों के अधीन हैं। वास्तव में, बात यही है। किन्तु परब्रह्म भगवान् कृष्ण कर्म के नियमों के अधीन नहीं हैं प्रत्युत वे स्वतंत्र रूप से वर दे सकते हैं या उसे रोक सकते हैं। इसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* के उपर्युक्त उद्धृत श्लोक से होती है, जिसकी तीसरी पंक्ति है—*कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्ति भाजाम्*—भगवान् प्रेमाभक्ति में लगे लोगों के समस्त संचित कर्म को जलाकर क्षार कर देते हैं। भगवान् कृष्ण न केवल कर्म के इन नियमों तथा उनके फल के ऊपर हैं अपितु वे प्रेमाभक्ति द्वारा प्रसन्न करने वाले के लिए इन नियमों को तुरन्त विलीन कर देते हैं। इस प्रकार सर्वशक्तिमान ईश्वर परम स्वतंत्र हैं और उनकी शरण में जाने पर हम कर्म के बन्धन से बच सकते हैं और उनकी किसी और की शोकप्रद राजसत्ता को सर्वोपरि मानने से इनकार कर सकते हैं।

तस्मात्सम्पूजयेत्कर्म स्वभावस्थः स्वकर्मकृत् ।
 अञ्जसा येन वर्तेत तदेवास्य हि दैवतम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतः; सम्पूजयेत्—पूरी तरह से पूजा करनी चाहिए; कर्म—अपना नियत कार्य; स्वभाव—अपने स्वभाव में; स्थः—बने रहकर; स्व-कर्म—अपना नियत कर्तव्य; कृत्—करते हुए; अञ्जसा—बिना कठिनाई के; येन—जिससे; वर्तेत—जीवित रहता है; तत्—वह; एव—निश्चय ही; अस्य—उसका; हि—निस्सन्देह; दैवतम्—पूज्य अर्चाविग्रह।

अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह कर्म की ही ठीक से पूजा करे। मनुष्य को अपने स्वभाव के अनुरूप स्थिति में बने रहना चाहिए और अपने ही कर्तव्य का निर्वाह करना चाहिए। निस्सन्देह जिससे हम अच्छी तरह रह सकते हैं वही वास्तव में हमारा पूज्य अर्चाविग्रह है।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् कृष्ण इस आधुनिक बेहूदे दर्शन का सुझाव रखते हैं कि हमारा कर्म या काम-धंधा ही असली ईश्वर है और हमें केवल अपने कर्म की पूजा करनी चाहिए। ध्यानपूर्वक

छानबीन करने पर हम यह पायेंगे कि हमारा कर्म भौतिक प्रकृति के साथ भौतिक शरीर की अन्योन्य क्रिया है, जैसाकि स्वयं भगवान् कृष्ण ने कुछ गंभीरता के साथ *भगवद्गीता* (३.२८) में कहा है *गुणा गुणेषु वर्तन्त। कर्म मीमांसा* दर्शन के अनुसार इस जीवन में किये गये उत्तम कर्म से हमें उत्तमतर अगला जीवन प्राप्त होगा। यदि यह सच है, तो फिर शरीर से पृथक् किसी न किसी प्रकार का चेतन आत्मा होना चाहिए। और यदि ऐसा है, तो फिर दिव्य आत्मा क्यों कर प्रकृति के साथ क्षणिक शरीर की अन्योन्य क्रिया की पूजा करे? यदि *सम्पूजयेत् कर्म* शब्दों का यह अर्थ लिया जाय कि मनुष्य को कर्मों को नियंत्रित करने वाले कर्म के नियमों की पूजा करनी चाहिए तो यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि नियमों की पूजा करने से क्या होगा, ऐसे नियमों का उत्स क्या है और उनको कौन बनाये हुए है? यह कहना कि नियमों से इस संसार की सृष्टि हुई है या इसका पालन हो रहा है, निरर्थक है क्योंकि नियम की प्रकृति से यह नहीं इंगित होता कि उससे कोई जगत उत्पन्न हो सकता है, जिस पर यह स्वामित्व जमा सकता है। वस्तुतः पूजा तो स्वयं कृष्ण के निमित्त है। इस अध्याय में इसी निष्कर्ष को स्पष्ट किया गया है।

आजीव्यैकतरं भावं यस्त्वन्यमुपजीवति ।

न तस्माद्विन्दते क्षेमं जारान्नार्यसती यथा ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

आजीव्य—जीवन निर्वाह करने वाला; एकतरम्—एक; भावम्—जीव; यः—जो; तु—लेकिन; अन्यम्—दूसरा; उपजीवति—स्वीकार करता है; न—नहीं; तस्मात्—उससे; विन्दते—प्राप्त करता है; क्षेमम्—असली लाभ; जारात्—परपति (उपपति) से; नारी—एक स्त्री; असती—दुष्टा; यथा—जिस तरह।

जो वस्तु वास्तव में हमारे जीवन का निर्वाह करती है यदि हम उसे छोड़कर अन्य वस्तु की शरण ग्रहण करते हैं, तो भला हमें असली लाभ कैसे प्राप्त हो सकता है? हम उस कृतघ्न स्त्री की भाँति होंगे जो जारपति के साथ प्रेमालाप करके कभी भी असली लाभ नहीं उठा पाती।

तात्पर्य : *क्षेमम्* शब्द का अर्थ है वास्तविक सम्पन्नता, मात्र धन का संचय नहीं। यहाँ पर भगवान् कृष्ण खुलकर तर्क करते हैं कि जिस तरह कोई स्त्री अवैध पति से वास्तविक प्रतिष्ठा या आलोक प्राप्त नहीं कर सकती उसी तरह वृन्दावन के निवासी अपनी सम्पन्नता के असली स्रोत की उपेक्षा करके उसके बदले इन्द्र की पूजा करके कभी भी सुखी नहीं हो सकते। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार बालक कृष्ण ने अपने पिता तथा अन्य गरुजनों के समक्ष जो ढिठाई दिखलाई उसे उस दिव्य क्रोध का

प्रदर्शन मानना चाहिए जो अपने नित्य भक्तों द्वारा एक नगण्य देवता का पूजन करते देखकर उनमें प्रकट हुआ था।

वर्तेत ब्रह्मणा विप्रो राजन्यो रक्षया भुवः ।
वैश्यस्तु वार्तया जीवेच्छूद्रस्तु द्विजसेवया ॥ २० ॥

शब्दार्थ

वर्तेत—जीवित रहता है; ब्रह्मणा—वेदों से; विप्रः—ब्राह्मण; राजन्यः—शासक वर्ग का सदस्य; रक्षया—रक्षा द्वारा; भुवः—पृथ्वी की; वैश्यः—वैश्य; तु—दूसरी ओर; वार्तया—व्यापार द्वारा; जीवेत्—जीवित रहता है; शूद्रः—शूद्र; तु—तथा; द्विज-सेवया—द्विजों अर्थात् ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों की सेवा द्वारा।

ब्राह्मण वेदों का अध्ययन और अध्यापन करके, शासक वर्ग का सदस्य पृथ्वी की रक्षा करके, वैश्य व्यापार करके तथा शूद्र अपने से ऊँची श्रेणी के द्विजों की सेवा करके अपना जीवन-निर्वाह करता है।

तात्पर्य : कर्म की महिमा बतलाने के बाद भगवान् कृष्ण अब मनुष्य के स्वाभाविक कर्तव्यों की व्याख्या कर रहे हैं। वे किसी मनचले कार्य का नहीं अपितु वर्णाश्रम द्वारा निर्दिष्ट धार्मिक कार्यों का उल्लेख कर रहे हैं।

कृषिवाणिज्यगोरक्षा कुसीदं तूर्यमुच्यते ।
वार्ता चतुर्विधा तत्र वयं गोवृत्तयोऽनिशम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

कृषि—खेती; वाणिज्य—व्यापार; गो-रक्षा—तथा गौवों की रक्षा; कुसीदम्—लेन-देन; तूर्यम्—चौथा; उच्यते—कहलाता है; वार्ता—वृत्तिपरक कार्य; चतुः-विधा—चार प्रकार का; तत्र—इनमें से; वयम्—हम; गो-वृत्तयः—गोरक्षा में लगे हुए; अनिशम्—अनवरत।

वैश्य के वृत्तिपरक कार्य चार प्रकार के माने गये हैं—कृषि, व्यापार, गोरक्षा तथा धन का लेन-देन। हम इनमें से केवल गोरक्षा में ही सदैव लगे रहे हैं।

सत्त्वं रजस्तम इति स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः ।
रजसोत्पद्यते विश्वमन्योन्यं विविधं जगत् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

सत्त्वम्—सतोगुण; रजः—रजोगुण; तमः—तथा तमोगुण; इति—इस प्रकार; स्थिति—पालन; उत्पत्ति—सृजन; अन्त—तथा विनाश के; हेतवः—कारण; रजसा—रजोगुण से; उत्पद्यते—उत्पन्न होता है; विश्वम्—यह ब्रह्माण्ड; अन्योन्यम्—नर तथा मादा के संयोग से; विविधम्—अनेक प्रकार का बन जाता है; जगत्—संसार।

सृजन, पालन तथा संहार का कारण प्रकृति के तीन गुण—सतो, रजो तथा तमोगुण—हैं।

विशिष्टतः रजोगुण इस ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करता है और संभोग के द्वारा यह विविधता से पूर्ण बनता है।

तात्पर्य : गौवों पर आश्रित जीविका निश्चित रूप से भगवान् इन्द्र पर निर्भर करती है, जो वर्षा देते हैं ऐसे आक्षेप की सम्भावना की पूर्वकल्पना करके यहाँ पर भगवान् कृष्ण नास्तिकतावादी सांख्य नामक जगत के यांत्रिक सिद्धान्त का परिचय देते हैं। प्रकृति के यंत्रवत् कार्यों के लिए कारण को उत्तरदायी ठहराना अत्यन्त प्राचीन प्रवृत्ति है। भगवान् कृष्ण ने ५,००० वर्ष पूर्व मानव समाज में प्रचलित इस सिद्धान्त का उल्लेख किया था।

रजसा चोदिता मेघा वर्षन्त्यम्बूनि सर्वतः ।

प्रजास्तैरेव सिध्यन्ति महेन्द्रः किं करिष्यति ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

रजसा—रजोगुण से; चोदिता:—प्रेरित; मेघा:—बादल; वर्षन्ति—वर्षा करते हैं; अम्बूनि—अपना जल; सर्वतः—सर्वत्र; प्रजा:—जनता; तैः—उस जल से; एव—ही; सिध्यन्ति—अपना अस्तित्व बनाये रहती हैं; महा-इन्द्रः—महान् इन्द्र; किम्—क्या; करिष्यति—कर सकता है।

रजोगुण द्वारा प्रेरित बादल सर्वत्र अपने जल की वर्षा करते हैं और इस वर्षा से ही सारे प्राणियों की जीविका चलती है। इस व्यवस्था से भला इन्द्र को क्या लेना-देना?

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण जगत के यांत्रिक सिद्धान्त की अपनी व्याख्या का समापन महेन्द्रः किं करिष्यति से करते हैं—“महान् इन्द्र की किसे आवश्यकता पड़ती है क्योंकि रजोगुण से प्रेरित बादल वर्षा करते हैं और यही वर्षा हरएक के लिए भोजन उत्पन्न करती है?” सर्वतः शब्द सूचित करता है कि समुद्र, शैल तथा ऊसर भूमि पर बादल खुले दिल से समान रूप से वर्षा करते हैं, जहाँ ऐसे मीठे जल की आवश्यकता नहीं दिखाई देती।

न नः पुरोजनपदा न ग्रामा न गृहा वयम् ।

वनौकसस्तात नित्यं वनशैलनिवासिनः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; नः—हमारे लिए; पुरः—नगर; जन-पदा:—विकसित आबाद क्षेत्र; न—नहीं; ग्रामा:—गाँव; न—नहीं; गृहा:—स्थायी घरों में रहने वाले; वयम्—हम; वन-ओकसः—बनों में रहने वाले; तात—हे पिता; नित्यम्—सदैव; वन—बनों में; शैल—तथा पर्वतों में; निवासिनः—रहने वाले।

हे पिताश्री, हमारे घर न तो नगरों में हैं, न कस्बों या गाँवों में हैं। वनवासी होने से हम सदैव

जंगल में तथा पर्वतों पर रहते हैं।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण यहाँ यह बतला रहे हैं कि वृन्दावनवासियों को गोवर्धन पर्वत तथा वृन्दावन के जंगलों से अपने सम्बन्ध को समझना चाहिए। उन्हें इन्द्र जैसे किसी लगुवे-भगुवे देवता की परवाह नहीं करनी चाहिए। अपना तर्क समाप्त करके वे अगले श्लोक में ठोस प्रस्ताव रखते हैं।

तस्माद्गवां ब्राह्मणानामद्रेश्चरभ्यतां मखः ।

य इन्द्रयागसम्भारास्तैरयं साध्यतां मखः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; गवाम्—गौवों का; ब्राह्मणानाम्—ब्राह्मणों का; अद्रेः—तथा पर्वत (गोवर्धन) का; च—भी; आरभ्यताम्—प्रारम्भ करना चाहिए; मखः—यज्ञ; ये—जो; इन्द्र-याग—इन्द्र यज्ञ के लिए; सम्भाराः—सामग्री; तैः—उनके द्वारा; अयम्—यह; साध्यताम्—सम्पन्न करना चाहिए; मखः—यज्ञ।

अतः गौवों, ब्राह्मणों तथा गोवर्धन पर्वत के आनन्द हेतु यज्ञ का शुभारम्भ हो। इन्द्र के पूजन के लिए जितनी सामग्री एकत्र की गई है उससे यह यज्ञ सम्पन्न किया जाय।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण गो-ब्राह्मण-हित के रूप में विख्यात हैं जिसका अर्थ है कि वे गौवों तथा ब्राह्मणों के शुभैषी मित्र हैं। भगवान् कृष्ण ने जानबूझ कर स्थानीय ब्राह्मणों को अपने प्रस्ताव में सम्मिलित किया क्योंकि वे दैवी वैदिक संस्कृति के प्रति अनुरक्त लोगों का सदैव सम्मान करते हैं।

पच्यन्तां विविधाः पाकाः सूपान्ताः पायसादयः ।

संयावापूपशक्कुल्यः सर्वदोहश्च गृह्यताम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

पच्यन्ताम्—लोग पकावें; विविधाः—नाना प्रकार के; पाकाः—पकवान् से लेकर; सूप-अन्ताः—शोरबा तक; पायस-आदयः—खीर इत्यादि; संयाव-आपूप—तले हुए पापड़; शक्कुल्यः—पूड़ियाँ; सर्व—सब; दोहः—गौवों के दुहने से प्राप्तव्य; च—तथा; गृह्यताम्—ले लिया जाय।

खीर से लेकर तरकारी के शोरवे तक के विविध पकवान तैयार किये जायँ। अनेक प्रकार के बढ़िया पापड़ तल लिए जायँ या सेंक लिए जायँ तथा दूध के जितने भी पदार्थ बन सकें उन्हें इस यज्ञ के लिए एकत्र कर लिया जाय।

तात्पर्य : सूप शब्द छीमियों के शोरवे तथा रसदार तरकारियों का सूचक है। इस तरह गोवर्धन पूजा के लिए भगवान् कृष्ण ने शोरबा जैसा गर्म पकवान, खीर जैसा ठंडा व्यंजन तथा सभी प्रकार की दूध की वस्तुएँ एकत्र करने के लिए कहा।

हृयन्तामग्नयः सम्यग्ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभिः ।

अन्नं बहुगुणं तेभ्यो देयं वो धेनुदक्षिणाः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

हृयन्ताम्—आह्वान किया जाय; अग्नयः—यज्ञ की अग्नियों का; सम्यक्—उचित रीति से; ब्राह्मणैः—ब्राह्मणों के द्वारा; ब्रह्म-वादिभिः—वेदविद्; अन्नम्—भोजन; बहु-गुणम्—अच्छी तरह से तैयार; तेभ्यः—उनको; देयम्—दिया जाय; वः—तुम्हारे द्वारा; धेनु-दक्षिणाः—गौवों की दक्षिणा।

वैदिक मंत्रों में पटु-ब्राह्मणों को चाहिए कि यज्ञ की अग्नियों का ठीक से आवाहन करें।

तत्पश्चात् तुम लोग पुरोहितों को उत्तम भोजन कराओ और उन्हें गौवें तथा अन्य भेंटें दान में दो।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार, भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने पिता तथा वृन्दावन के अन्य वासियों को इस वैदिक यज्ञ की शास्त्रीय विधि का विस्तृत उपदेश दिया जिससे यज्ञ की गुणवत्ता के बारे में आश्वस्त हुआ जा सके और नन्द तथा अन्यो को ऐसे यज्ञ की भावभूमि में श्रद्धा से अनुप्राणित किया जा सके। इस प्रकार भगवान् ने बतलाया कि सनातनी ब्राह्मण, नियमित यज्ञ की अग्नियाँ और समुचित दान-वितरण का होना आवश्यक है। इन्हें भगवान् द्वारा बतलाए गए क्रम में सम्पन्न करना था।

अन्येभ्यश्चाश्वचाण्डालपतितेभ्यो यथार्हतः ।

यवसं च गवां दत्त्वा गिरये दीयतां बलिः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

अन्येभ्यः—औरों के लिए; च—भी; आ-श्व-चाण्डाल—कुत्तों तथा चाण्डालों तक; पतितेभ्यः—ऐसे पतित लोगों के लिए; यथा—जिस तरह; अर्हतः—चाहिए; यवसम्—घास; च—तथा; गवाम्—गौवों को; दत्त्वा—देकर; गिरये—गोवर्धन नामक पर्वत को; दीयताम्—प्रदान की जानी चाहिए; बलिः—आदरपूर्ण भेंट।

कुत्तों तथा चाण्डालों जैसे पतितात्माओं समेत हर एक को उपयुक्त भोजन देने के बाद तुम

सबों को चाहिए कि गौवों को घास दो और तब गोवर्धन पर्वत को अपनी सादर भेंटें चढ़ाओ।

स्वलङ्क ता भुक्तवन्तः स्वनुलिप्ताः सुवाससः ।

प्रदक्षिणां च कुरुत गोविप्रानलपर्वतान् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

सु-अलङ्क ताः—सुन्दर आभूषण पहन कर; भुक्तवन्तः—भरपेट खाकर; सु-अनुलिप्ताः—शुभ चन्दनलेप करके; सु-वाससः—अच्छे वस्त्र पहन कर; प्रदक्षिणाम्—प्रदक्षिणा; च—तथा; कुरुत—तुमलोगों को करनी चाहिए; गो—गौवों; विप्र—ब्राह्मणों; अनल—यज्ञ की अग्नियों; पर्वतान्—तथा गोवर्धन पर्वत की भी।

भरपेट भोजन करने के बाद तुममें से हरएक को वस्त्र तथा आभूषण से खूब सजना चाहिए,

अपने शरीर में चन्दनलेप करना चाहिए और तत्पश्चात् गौवों, ब्राह्मणों, यज्ञ की अग्नियों तथा

गोवर्धन पर्वत की प्रदक्षिणा करनी चाहिए।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण चाहते थे कि सारे मनुष्य तथा पशु तक उत्तम भगवत्-प्रसाद अर्थात् भगवान् को भेंट किए हुए शुद्ध भोजन खाँय। अपने परिजनों को प्रफुल्लित बनाने के लिए उन्होंने उन्हें सुन्दर वस्त्र और आभूषणों से सजने और शरीर में बहुमूल्य चन्दनलेप करने का आग्रह किया। किन्तु मुख्य कृत्य तो पवित्र ब्राह्मणों, गौवों, यज्ञ अग्नियों तथा विशेषतया गोवर्धन पर्वत की प्रदक्षिणा करना था।

एतन्मम मतं तात क्रियतां यदि रोचते ।

अयं गोब्राह्मणाद्रीणां मह्यं च दयितो मखः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; मम—मेरा; मतम्—विचार; तात—हे पिताश्री; क्रियताम्—किया जाय; यदि—यदि; रोचते—अच्छा लगे; अयम्—यह; गो-ब्राह्मण-अद्रीणाम्—गौवों, ब्राह्मणों तथा गोवर्धन पर्वत को; मह्यम्—मेरे लिए; च—भी; दयितः—प्रिय; मखः—यज्ञ।

हे पिताश्री, यह मेरा विचार है और यदि आपको अच्छा लगे तो आप इसे कीजिये। ऐसा यज्ञ गौवों, ब्राह्मणों तथा गोवर्धन पर्वत को एवं मुझको भी अत्यन्त प्रिय होगा।

तात्पर्य : ब्राह्मणों, गौवों तथा स्वयं भगवान् को जो भी अच्छा लगे वह शुभ है और अखिल विश्व के लिए लाभप्रद है। 'आधुनिक लोग' जोकि आध्यात्मिक रूप से अंधे हैं इसे नहीं समझते। इसके विपरीत वे जीवन के प्रति "वैज्ञानिक" दृष्टि-कोण रखने के कारण सम्पूर्ण पृथ्वी का विनाश करे जा रहे हैं।

श्रीशुक उवाच

कालात्मना भगवता शक्रदर्पजिघांसया ।

प्रोक्तं निशम्य नन्दाद्याः साध्वगृह्णन्त तद्वचः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; काल-आत्मना—काल की शक्ति के रूप में प्रकट होकर; भगवता—भगवान् द्वारा; शक्र—इन्द्र का; दर्प—गर्व; जिघांसया—विनष्ट करने की इच्छा से; प्रोक्तम्—कहा गया; निशम्य—सुनकर; नन्द-आद्याः—नन्द तथा अन्य वृद्ध गोपजन; साधु—सर्वोत्तम कहकर; अगृह्णन्त—स्वीकार कर लिया; तत्-वचः—उनके शब्दों को।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : शक्तिमान काल स्वरूप भगवान् कृष्ण इन्द्र के मिथ्या गर्व को नष्ट करना चाहते थे। जब नन्द तथा वृन्दावन के अन्य वृद्धजनों ने श्रीकृष्ण का वचन सुना तो

उन्होंने इसे उचित मान लिया ।

तथा च व्यदधुः सर्वं यथाह मधुसूदनः ।

वाचयित्वा स्वस्त्ययनं तद्द्रव्येण गिरिद्विजान् ॥ ३२ ॥

उपहृत्य बलीन्सम्यगाहता यवसं गवाम् ।

गोधनानि पुरस्कृत्य गिरिं चक्रुः प्रदक्षिणम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तथा—इस तरह; च—और; व्यदधुः—सम्पन्न किया; सर्वम्—हर बात; यथा—जिस तरह; आह—बतलाया; मधुसूदनः—भगवान् कृष्ण ने; वाचयित्वा—(ब्राह्मणों से) वाचन कराया; स्वस्ति-अयनम्—शुभ मंत्र; तत्-द्रव्येण—इन्द्र यज्ञ के निमित्त एकत्र की गई सामग्री से; गिरि—पर्वत; द्विजान्—तथा ब्राह्मणों को; उपहृत्य—भेंट करके; बलीन्—उपहार; सम्यक्—सभी एकसाथ; आहताः—आदरपूर्वक; यवसम्—घास; गवाम्—गौवों को; गो-धनानि—साँड़ों, गौवों तथा बछड़ों को; पुरस्कृत्य—आगे करके; गिरिम्—पर्वत की; चक्रुः—की; प्रदक्षिणम्—प्रदक्षिणा ।

तत्पश्चात् ग्वाल समुदाय ने मधुसूदन द्वारा प्रस्तावित सब कुछ पूरा किया । उन्होंने शुभ वैदिक मंत्रों का वाचन करने के लिए ब्राह्मणों की व्यवस्था की और इन्द्र-यज्ञ के निमित्त संग्रहीत सारी सामग्री को उपयोग में लाते हुए गोवर्धन पर्वत तथा ब्राह्मणों को सादर भेंटें दीं । उन्होंने गौवों को भी घास दिया । तत्पश्चात् गौवों, साँड़ों तथा बछड़ों को आगे करके गोवर्धन पर्वत की प्रदक्षिणा की ।

तात्पर्य : वृन्दावनवासी एकमात्र भगवान् कृष्ण के भक्त थे, यही उनके जीवन का सार-समाहार था । भगवान् के नित्य संगी होने के कारण न तो उन्हें इन्द्र या किसी अनुष्ठान-यज्ञ से कोई सरोकार था, न ही वे कृष्ण द्वारा कहे गये यांत्रिक (सांख्य) दर्शन में रुचि रखते थे । वे तो कृष्ण से केवल प्रेम करते थे और प्रगाढ़ स्नेहवश ही उन्होंने जैसा कृष्ण द्वारा कहा गया वैसा ही किया ।

उनकी यह सरल प्रेम-मानसिकता कोई संकीर्ण हृदयता या अज्ञान न थी क्योंकि वे परमपूर्ण सत्य के प्रति अनुरक्त थे जो अपने में सारा ब्रह्माण्ड समाये हुए हैं । इस तरह वृन्दावनवासियों ने निरन्तर सभी सत्यों के आधारभूत सर्वोच्च, अनिवार्य सत्य अर्थात् स्वयं श्रीकृष्ण का अनुभव किया जो समस्त कारणों के कारण तथा इस जगत का पालन करने वाले हैं । वृन्दावनवासी उन परब्रह्म की प्रेमाभक्ति से अभिभूत रहते थे अतएव वे समस्त प्राणियों में परम भाग्यशाली, परम बुद्धिमान तथा परम व्यावहारिक थे ।

अनांस्यनडुद्युक्तानि ते चारुह्य स्वलङ्कृताः ।

गोप्यश्च कृष्णवीर्याणि गायन्त्यः सद्विजाशिषः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

अनांसि—छकड़े; अनडुत्-युक्तानि—बैलों से नँधे; ते—वे; च—और; आरुह्य—चढ़कर; सु-अलङ्कृतः—उत्तम आभूषण पहने; गोप्यः—गोपियाँ; च—तथा; कृष्ण-वीर्याणि—भगवान् कृष्ण की महिमाओं को; गायन्त्यः—गाती हुई; स—के साथ; द्विज—ब्राह्मणों के; आशिषः—आशीर्वाद।

बैलों द्वारा खींचे जा रहे छकड़ों में चढ़कर सुन्दर आभूषणों से अलंकृत गोपियाँ भी साथ हो लीं और कृष्ण की महिमा का गान करने लगीं और उनके गीत ब्राह्मणों के आशीष के साथ समामेलित हो गये।

कृष्णास्त्वन्यतमं रूपं गोपविश्रम्भणं गतः ।

शैलोऽस्मीति बुवन्भूरि बलिमादद्बहद्वपुः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

कृष्णः—भगवान् कृष्ण; तु—और तब; अन्यतमम्—दूसरा; रूपम्—स्वरूप; गोप-विश्रम्भणम्—गोपों में श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए; गतः—धारण किया; शैलः—पर्वत; अस्मि—हूँ; इति—ये वचन; बुवन्—कहते हुए; भूरि—प्रचुर; बलिम्—भेंट; आदत्—निगल गये; बृहत्-वपुः—अपने विराट रूप में।

तत्पश्चात् कृष्ण ने गोपों में श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए अभूतपूर्व विराट रूप धारण कर लिया और यह घोषणा करते हुए कि “मैं गोवर्धन पर्वत हूँ” प्रचुर भेंटें खा लीं।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने भगवान् श्रीकृष्ण के चौबीसवें अध्याय में लिखा है, “जब सारी तैयारी पूरी हो गई तो कृष्ण ने महान् दिव्य रूप धारण कर लिया और यह आश्चर्य करने के लिए कि गोवर्धन पर्वत और कृष्ण एक ही हैं वृन्दावनवासियों से बोले कि मैं ही साक्षात् गोवर्धन पर्वत हूँ। तत्पश्चात् वे वहाँ पर भेंट किया हुआ सारा भोजन खाने लगे। आज भी कृष्ण तथा गोवर्धन के स्वरूप का आदर किया जाता है। बड़े बड़े भक्त गोवर्धन पर्वत से शिलाएँ लेकर उनकी उसी तरह पूजा करते हैं जिस तरह मन्दिरों में कृष्ण के अर्चाविग्रह की पूजा की जाती है। इसीलिए भक्तगण गोवर्धन पर्वत से छोटे-छोटे पत्थर या कंकड़ बीनकर घर लाते हैं और उन्हें पूजते हैं क्योंकि यह पूजा अर्चाविग्रह पूजा जैसी है।”

भगवान् कृष्ण ने अपनी ओर से वृन्दावनवासियों को महत्त्वपूर्ण मुसीबत मोल लेने के लिए प्रेरित किया था। उन्हें शक्तिशाली विश्व-सरकार के यज्ञ की उपेक्षा करके उसके बदले गोवर्धन पर्वत की पूजा करने के लिए आश्चर्य किया। गोपसमाज ने कृष्ण-प्रेमवश ही यह सब किया और अब उन्हें यह विश्वास दिलाने के लिए कि जो कुछ भी उन्होंने किया है, वह सही है भगवान् कृष्ण ने अभूतपूर्व दिव्य

स्वरूप धारण किया और यह दिखला दिया कि वे ही गोवर्धन पर्वत हैं ।

तस्मै नमो ब्रजजनैः सह चक्र आत्मनात्मने ।

अहो पश्यत शैलोऽसौ रूपी नोऽनुग्रहं व्यधात् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तस्मै—उनको; नमः—नमस्कार; ब्रज-जनैः—ब्रज के लोगों के; सह—साथ; चक्रे—बनाया; आत्मना—अपने से; आत्मने—अपने में; अहो—ओह; पश्यत—जरा देखो; शैलः—पर्वत ने; असौ—यह; रूपी—रूप धारण किये; नः—हम पर; अनुग्रहम्—कृपा; व्यधात्—प्रदान की ।

कृष्ण ने ब्रजवासियों समेत गोवर्धन पर्वत के इस स्वरूप को नमन किया और इस तरह वास्तव में अपने को ही नमस्कार किया । तत्पश्चात् उन्होंने कहा, “जरा देखो तो, यह पर्वत किस तरह पुरुष रूप में प्रकट हुआ है और इसने हम पर कृपा की है।”

तात्पर्य : इस श्लोक से स्पष्ट हो जाता है कि कृष्ण ने अपना विस्तार किया था । वे वृन्दावन के उत्सव मनाने वालों के बीच अपने सामान्य रूप में दिख रहे थे जबकि उसी के साथ गोवर्धन पर्वत के विराट रूप में भी प्रकट हो रहे थे । इस तरह बालक कृष्ण ने वृन्दावनवासियों को अपने गोवर्धन पर्वत रूपी नए अवतार के समक्ष नमन करने को कहा और सबों को बतलाया कि गोवर्धन के इस दैवी रूप ने उन पर महती कृपा की है । कृष्ण के विस्मयकारी दिव्य कार्यकलाप आमोद-प्रमोद युक्त वातावरण के अनुरूप थे ।

एषोऽवजानतो मर्त्यान्कामरूपी वनौकसः ।

हन्ति ह्यस्मै नमस्यामः शर्मणे आत्मनो गवाम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह; अवजानतः—लापरवाह; मर्त्यान्—मर्त्यों को; काम-रूपी—इच्छानुसार रूप धारण करने वाले (यथा पर्वतों में रहने वाले सर्प); वन-ओकसः—वनवासी; हन्ति—मार डालेंगे; हि—निश्चय ही; अस्मै—उसको; नमस्यामः—नमस्कार करें; शर्मणे—रक्षा करने के लिए; आत्मनः—हम सबकी; गवाम्—तथा गौवों की ।

यह गोवर्धन पर्वत इच्छानुसार रूप धारण करके अपनी उपेक्षा करने वाले वन के किसी भी निवासी को मार डालेगा । अतः अपनी तथा गौवों की सुरक्षा के लिए हम उसको नमस्कार करें ।

तात्पर्य : काम-रूपी शब्द बतलाता है कि गोवर्धन पर्वत विषैले साँपों, जंगली पशुओं, गिरती चट्टानों इत्यादि का रूप धारण कर सकता है और ये सारे रूप मनुष्य को मारने में सक्षम हैं ।

श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार भगवान् ने इस अध्याय में सिद्धान्त की छः बातें कही हैं—

(१) केवल कर्म ही किसी के भाग्य का निश्चय कर सकता है (२) मनुष्य का बद्ध स्वभाव उसका परम नियन्ता है (३) प्रकृति के गुण सर्वोच्चनियन्ता हैं (४) भगवान् कर्म के आश्रित पक्ष के रूप में हैं, (५) वे कर्म-नियंत्रण के अधीन हैं; तथा (६) मनुष्य की वृत्ति ही वास्तविक आराध्यदेव है।

भगवान् ने इन तर्कों को सबों के समक्ष इसलिए नहीं प्रस्तुत किया कि वे उनमें विश्वास करते थे अपितु इसलिए कि वे इन्द्र के आसन्न यज्ञ को रोककर उन्हें गोवर्धन पर्वतस्वरूप स्वयं की ओर मोड़ना चाहते थे। इस तरह से भगवान् ने उस मिथ्याभिमानि देवता को उद्वेलित करना चाहा।

इत्यद्रिगोद्विजमखं वासुदेवप्रचोदिताः ।

यथा विधाय ते गोपा सहकृष्णा व्रजं ययुः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार से; अद्रि—गोवर्धन पर्वत; गो—गौवं; द्विज—तथा ब्राह्मणों को; मखम्—विशाल यज्ञ; वासुदेव—कृष्ण द्वारा; प्रचोदिताः—प्रेरित; यथा—उचित ढंग से; विधाय—सम्पन्न करके; ते—वे; गोपाः—गोपजन; सह-कृष्णाः—कृष्ण के साथ; व्रजम्—व्रज को; ययुः—गये।

इस प्रकार भगवान् वासुदेव द्वारा समुचित ढंग से गोवर्धन-यज्ञ सम्पन्न करने के लिए प्रेरित किये गये गोपजन गौवं तथा ब्राह्मण कृष्ण के साथ अपने गाँव व्रज लौट आये।

तात्पर्य : यद्यपि गोवर्धन पूजा बड़े ही आनन्दपूर्ण ढंग से सफलतापूर्ण सम्पन्न हो गई, किन्तु मामला यहीं समाप्त नहीं हुआ। आखिरकार देवता इन्द्र अत्यधिक शक्तिशाली जो ठहरा, अतः जब उसे गोवर्धन-यज्ञ की जानकारी मिली तो वह क्रोध से आग बबूला हो उठा। इसके आगे जो कुछ हुआ उसका वर्णन अगले अध्याय में मिलेगा।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कन्ध के अन्तर्गत “गोवर्धन-पूजा” नामक चौबीसवें अध्याय के श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।